नाद-नर्तन
जर्नल ऑफ डांस एण्ड म्यूजिक
ISSN: 2349-4654
वर्ष : 14, अंक : 1, जनवरी 2026

समकालीन हिन्दी रंगमंच : परम्परा और आधुनिकता का सुमेल

डॉ. राणा प्रताप यादव
शोधार्थी, आईसीएसएसआर प्रोजेक्ट

सार-संक्षेप

प्रस्तुत शोध-आलेख में पारंपरिक, पाश्चात्य और आधुनिक रंग-शैली का अध्ययन कर समकालीन हिन्दी नाटक एवं रंगमंच पर उनके प्रभाव का विश्लेषण किया गया है। समकालीन नाट्य-प्रस्तुतियों में लोक नाटकों के शिल्प एवं शैली को अपनाया जा रहा है, जिसके कारण 'लोक' के साथ-साथ संस्कृत नाटकों से भी दर्शक रू-ब-रू हो रहे हैं। साथ ही, ऐतिहासिक-पौराणिक नाटकों का भी प्रस्तुतीकरण आधुनिक रंगोपकरणों के माध्यम से सहज रूप में हो रहा है। आधुनिक रंगोपकरणों के प्रयोग के चलते भी समकालीन हिन्दी रंगमंच पर अनेकानेक बदलाव देखे जा सकते हैं। पूर्व में जो नाटक मंचन की दृष्टि से क्लिष्ट माने जाते थे, उनका मंचन अब सरल हो गया है। जहाँ एक ओर विभिन्न लोक नाट्य-शैली (जैसे- ख्याल, नौटंकी, जात्रा, अंकीया, रासलीला, रामलीला आदि) का प्रभाव दिखाई पड़ता है, वहीं आधुनिक रंग-शैली एवं पाश्चात्य रंग-शैली (ग्रीक-शैली, एपिक थिएटर, मनोशारीरिक रंग-शैली, एपिक थिएटर, एलिनिएशन थिएटर, प्रोसीनियम थिएटर, एब्सर्ड थिएटर यथार्थवादी रंगमंच आदि) का असर भी समकालीन हिन्दी नाटकों के कथ्य और शिल्प में देखने को मिलता है। समकालीन दौर में हिंदी रंगमंच तकनीक की दृष्टि से भी समृद्ध हो रहा है। आज रंगमंच के क्षेत्र में निश्चय ही पुरातन और अधुनातन का सामंजस्य दिखाई पड़ता है। इन सभी पक्षों का अध्ययन कर समकालीन हिन्दी रंगमंच की एक 'नवीन शैली' को उदाहरण सहित इस शोध-आलेख में प्रस्तुत किया गया है। शोध की ऐतिहासिक पद्धति, तुलनात्मक पद्धति व विश्लेषणात्मक पद्धति के आधार पर प्रस्तुत आलेख को पूर्ण किया गया है।

मुख्य शब्द : पारंपरिक नाट्य-शैली, पाश्चात्य रंग-शैली, समकालीन, हिन्दी रंगमंच, रंगकर्म।

शोध-पत्र

आज नाट्य-लेखन तथा उसकी रंगमंचीय प्रस्तुति में विशेषकर रचना-शैली, रंग युक्तियों, नाट्य-प्रसंगों और कथ्य की दृश्य प्रस्तुति के शिल्प में नवीन तकनीकी प्रयोगों के चलते लोक-परंपरा और लोक जीवन से जुड़ने का भाव गहराया है। समकालीन हिन्दी नाटकों में संस्कृत रंग-पद्धतियों, पाश्चात्य रंग-दर्शन और नाट्यकला की सरल, स्वाभाविक तथा दर्शकोन्मुख, हास्य-प्रधान लोकनाट्यों की सजीव नाट्यकला आमजन में लोकप्रिय हैं। वास्तव में यह लोक नाट्य पद्धति संस्कृत नाटक के समय से ही समाज में व्याप्त थी। इसका स्पष्ट उदाहरण भरतमुनि रचित नाट्यशास्त्र में भी वर्णित है। लोक नाट्यों ने आधुनिक भारतीय नाटकों को संस्कृत नाटकों से जोड़ने की परंपरा विकसित की है। इस संदर्भ में रीतारानी पालीवाल का कथन है कि "आधुनिक भारतीय नाटकों को संस्कृत-नाट्य से जोड़ने वाली मूल शृंखला विविध क्षेत्रीय नाटकों की है। वस्तुतः यह लोक नाट्य परम्परा भारतीय जनसाधारण के बीच संस्कृत नाटकों के चरमोत्कर्ष काल में ही विद्यमान थी। इसका स्पष्ट संकेत 'नाट्यशास्त्र' में वर्णित लोक-धर्मी नाट्य-परम्परा के सन्दर्भ में मिलता है। रासलीला, अंकिया नाट, जात्रा, भागवत-मेल आदि आधुनिक आँचलिक नाट्य-विधाओं का उद्भव श्री जगदीशचन्द्र माथुर संस्कृत नाट्य-काल में उपस्थित सांगीतक (संगीत-नृत्य-संवाद मिश्रित शैली) मानते हैं। उनके विचार से लक्षणकारों ने यद्यपि इस नाट्यशैली का उल्लेख नहीं किया तथापि नाटककारों तथा लेखकों ने 'सांगीतक' शब्द का व्यवहार किया है।"[1] इस प्रकार प्रत्येक युग और परिस्थिति में जीवंत और लोकप्रिय बने रहने वाले लोकनाट्य-रूपों अथवा लोक कथाओं से प्रभाव ग्रहण करते हुए समकालीन हिन्दी नाटकों में लोक कथाओं के अनुसार उसी प्रकार का कथागायन, मंगलाचरण, वाद्ययंत्रों का प्रयोग, मंच-सज्जा, चरित्र-सृष्टि, वेश-विन्यास, संवाद-भंगिमा तथा अभिनयादि की कुशलता समाहित है। पाश्चात्य रंग-दर्शन के साथ लोकशैली-शिल्प का विधान, रंग-समन्वय, प्राचीन शास्त्रीय नाट्य-शैलियों का नए नाट्य-शैली में प्रस्तुत कर पुरातन एवं नवीन रंग-शैलियों का समायोजन हुआ है।

समकालीन हिन्दी नाटकों में दर्शकों का मनोरंजन करने और उनकी रुचि का परिष्कार करने की प्रवृत्ति देखी जा सकती है। इसीलिए लोक-नाट्यों की दीर्घकालीन जीवित रंग-परंपरा के अनिवार्य तत्वों का इस्तेमाल किया जा रहा है। नई रंग शैलियाँ भी इसी तरह विकसित की गई हैं, जो नाटकीय नियमों का निर्माण करते हैं। आज लोकमंच के

विभिन्न रंग-तत्त्वों, रूढ़ियों और पद्धतियों का उपयोग कर संवादों और क्रियाओं द्वारा दृश्य और कार्य की सूचना देकर प्रदर्शन में नवीनता लाने की कोशिश की जा रही है।

समकालीन हिन्दी नाटककारों ने नाटक के शिल्प में लोकजीवन के अधिकांश पक्षों और लोकमंच के तत्त्वों को शामिल किया है। लोकभाषा, लोकजीवन, लोकगीत, नृत्य-संगीत, कठपुतली का रंग, कठघोड़वा का नाच और मुखौटा नृत्य आदि में लोक-रंगों को प्रदर्शित करने के लिए उनकी यह स्वीकृति अनेक रूपों में हुई हैं। ये सारी विशेषताएँ एक ही नाटक में नहीं मिलतीं। हिन्दी नाटकों में प्रतीकात्मकता को बढ़ाने और मानवेत्तर चरित्रों के व्यक्तित्व को गढ़ने के लिए मुखौटों का प्रयोग किया जाता है। विशेषकर पशु-प्रतीक प्रधान नाटकों में पशु-पक्षी के मुखौटों का प्रयोग अनिवार्य रूप से किया जाता है। उदाहरणस्वरूप 'अंधा कुँआ' में ग्रामीण जीवन का मार्मिक चित्रण और लोकभूमि की संवेदना व ग्रामीण जीवन के सभी पहलू समाहित हैं। सूत्रधार अथवा नट-नटी के स्थान पर कथाकार, मंच पर गायक-वादक के गायन द्वारा कथा-सूत्रों की तारतम्यता बनाए रखने की कोशिश, अर्थपूर्ण संगीत, अनभिनेय अंशों का कथाकार द्वारा स्वयं वाचन, भूमिका परिवर्तन, लोकधुनों पर आधारित लोकगीतों का उपयोग आदि में निहित गहरी अनुभूति को व्यक्त करने का प्रयास इस नाटक में देखने को मिलता है। जिस घोड़े पर सवार होकर राजा ठाकुर मंच पर आते हैं उसका मुखौटा ही उसका पात्र होता है। 'कलंकी' में भी मुखौटे के प्रयोग की संभावना है। 'शुतुरमुर्ग' में मंत्रियों का मंच के एक कोने में जाकर भयंकर आकृतियों वाले मुखौटे पहनना भाषण मंत्री का सामूहिक एकता दिखाने वाला मुखौटा और रक्षा मंत्री का सामूहिक क्रोध दिखाने वाला मुखौटा एक नवीन प्रयोग है।

दो सौ वर्षों की दासता तथा पश्चिमी प्रभावों के कारण हिन्दी रंगमंच भी लंबे समय से पश्चिमी रंग-शैली से प्रभावित रहा इसमें कोई संदेह नहीं। परंतु स्वतंत्रता के बाद एक समय ऐसा आया जब कुछ नाटककारों ने इस परंपरा को तोड़ा और एक बार फिर हिन्दी नाटकों में लोक तत्वों को समाहित करने का प्रयास किया। कहीं-न-कहीं यह प्रतिक्रिया पश्चिमी रंग प्रयोगों और रंग शैलियों के ऊब का कारण भी था। गिरीश रस्तोगी के निम्नलिखित कथन से इस बात कि पुष्टि स्वतः ही हो जाती है, "जब हिन्दी रंगमंच और नाट्य लेखन पश्चिमी रंग-प्रयोगों और शैलियों से ऊब चुका तो हिन्दी रंगमंच की प्रकृति का अन्वेषण करने और अपनी मिट्टी और जनसमूह से जुड़ने की बेचैनी में लेखन और रंगकर्म दोनों लोक-नाट्य-शैली के प्रयोगों की ओर मुड़े। सन् 76-77 के आसपास का समय इस दृष्टि से बेहद रचनात्मक कहा जा सकता है। सर्वेश्वर के 'बकरी' और मणि मधुकर के 'रसगंधर्व' और 'दुलारीबाई' ने सहसा वातावरण ही बदल दिया। देश के कोने-कोने में इन नाटकों के नौटंकी, राजस्थानी खयाल आदि लोकनाट्य-रूपों में और साथ ही पारसी रंगमंच एवं आधुनिक रंगमंच के प्रयोगों में सैकड़ों मंचन हुए जो हजारों की भीड़ में खुले माहौल में भी प्रदर्शित हुए और बन्द प्रेक्षागृह के फ्रेम में भी। इनका उपयोग नाट्य प्रशिक्षण शिविरों के लिए भी हुआ और बड़े-बड़े समारोहों के लिए भी। राष्ट्रीय फलक पर हबीब तनवीर अपने मूल लोक-कलाकारों द्वारा छत्तीसगढ़ी लोकनाट्य-रूपों का आधुनिक सन्दर्भ में सर्जनात्मक उपयोग 'चरणदास चोर' तथा अन्य कृतियों द्वारा कर रहे थे जिसने राजेन्दरनाथ के कल्पनाशील निर्देशन में प्रस्तुत 'घासीराम कोतवाल' के साथ अन्तर्राष्ट्रीय फलक पर भी भारतीय रंगमंच की छवि बनायी। इसी दौर में कारन्त ने दक्षिण की यक्षगान शैली का बहुत ही सार्थक प्रयोग 'अंधेर नगरी' और 'बरनम वन' में किये। उनकी 'हयवदन' की प्रस्तुति इतिहास की महत्त्वपूर्ण कड़ी है।"[2] अतः यह स्पष्ट है कि लोक-नाट्यों ने समकालीन हिंदी नाटक के स्वरूप, संरचना, प्रकृति, स्थिति, संभावना, दशा तथा दिशा को विभिन्न रूपों में प्रभावित किया है, जिससे नाट्य-लेखन में नवाचार लाने और अपनी मूल जड़ों से जुड़ने का भाव गहराया है। हिन्दी रंगमंच में सार्थक शिल्प-शैली, स्वतंत्र वातावरण, लोक परंपराओं, लोक-जीवन की स्वाभाविकता, सहजता और नाट्य-रूपों से संबंधित नाटकों की रचनाओं से संबंधित कार्य किया गया है। नाटकीय संवेदना तथा अनुभूति के संप्रेषण के लिए रंग-तत्वों का उपयोग और लोककथा के समायोजन की विशिष्ट प्रक्रिया, नाट्य-विधान की दृष्टि से कथ्य को दृश्यात्मक और व्यंजनात्मक बनाने के लिए किया जाता है। रचनाओं में उस लोक-शैली की अधिकांश रंग-रूढ़ियों, मंचीय उपादानों, लोक-तत्त्वों और पद्धतियों को रूपायित किया गया है जो लोक-जीवन से जुड़े हुए हैं और लोकप्रिय हैं। इसलिए इन नाटकों में लोक-तत्त्वों को रचनात्मक और कलात्मक स्तर पर भी शामिल किया जाता है।

समकालीन नाट्य-लेखन की एक नई दिशा और प्रवृत्ति इतिहास, पुराण और लोक-विख्यात कथाओं या पुरा-कथाओं को सम-सामयिक प्रसंगों से जोड़कर नए संदर्भों के साथ पुनर्व्याख्यायित करना भी है। डॉ. धर्मवीर भारती ने 'अंधा युग' में समकालीन युगबोध तथा अनुभव को लोकमंचीय स्पर्श देते हुए पौराणिक कथासूत्रों, प्रसंगों तथा घटनाओं को नाटकीय कल्पना के साथ आधुनिक संदर्भों में प्रस्तुत किया हैं। यह नाटक सरस्वती वंदना, प्रस्तावना और उद्घोषणा से शुरू होता है और संस्कृत नाट्य-परंपरा से जुड़ा हुआ अनुभव कराता है। कोरस के कारण कथागायन के कलात्मक सौंदर्य भी उभर कर आया है।

'बकरी' नाटक समकालीन युगीन संदर्भों के साथ लिखा गया है। यह मंगलाचरण से शुरू होता है, जिसमें सामान्य नौटंकी की तरह देवताओं की प्रशंसा नहीं होती, बल्कि राजनीतिज्ञों पर व्यंग्य कसा जाता है। नाटक 'आला अफसर' में संगीत-प्रधान रंगमंच, छंदबद्ध संवादों और कव्वाली सहित अन्य रंग-रूढ़ियों का प्रयोग शामिल है। अशोक मिश्र ने 'बजे ढिंढोरा उर्फ खून का रंग' नाटक लिखा है, जोकि राजस्थानी लोक-कथा और नौटंकी की रंग-युक्तियों और परंपराओं से प्रेरित है। हमीदुल्ला ने 'ख्याल भारमली' में राजस्थानी ख्याल की शैली और आधुनिक रंग-पद्धतियों का मिश्रण करते हुए लोककथा की पृष्ठभूमि पर नारी शोषण और उत्पीड़न, उनकी दशा और दुःस्थितियों को दिखाया है। 'कबीर खड़ा बजार में' नाटक की भाषा में भोजपुरी-अवधी का पुट और मंचन में कबीर के पदों के गायन में लोकधुनों का प्रयोग तथा मंच पर चक्कर लगाकर स्थान परिवर्तन का संकेत लोकनाट्य का परिवेश तैयार करता है।

स्वतंत्रता के बाद समकालीन दौर में एक ओर जहाँ पारंपरिक एवं लोक नाट्य-तत्वों का प्रभाव हिन्दी नाटकों पड़ रहा वहीं पाश्चात्य नाटकों के कथ्य और शिल्प का प्रभाव भी हिन्दी नाटकों में देखने को मिलता है। हमारे नए नाटकों में भी पाश्चात्य नाटकों की तरह एकाकीपन, संत्रास, भय, निराशा, जीवन की निरर्थकता की भावना और यांत्रिक युग का अभिशाप दिखाई देता है। स्वतंत्रता के बाद भारत की राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों ने मानव मूल्यों के हनन और सामाजिक विघटन को जन्म दिया, जिससे लोग निराशा और अकेलेपन के शिकार हुए। तेजी से बढ़ते औद्योगीकरण तथा शहरीकरण ने भारतीय लोगों को भी यांत्रिक जीवन और अजनबीपन का शिकार बनाया। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण मैंने फरवरी, 2018 को श्रीराम सेंटर में त्रिपुरारी शर्मा द्वारा लिखित एवं निर्देशित नाटक 'शायर...शटर डाऊन' में देखा, जिसकी प्रस्तुति 'फ़्लाइंग फेदर्स आर्ट एसोसिएशन' नाट्य ग्रुप के द्वारा की गई थी। आर्थिक स्वतंत्रता ने महिलाओं को अधिकारों के लिए पुरुषों के साथ प्रतिस्पर्धा में डाल दिया, जिससे परम्परागत वैवाहिक मूल्यों का विघटन शुरू हुआ। मोहन राकेश लिखित नाटक 'आधे-अधूरे' इसका ज्वलंत उदाहरण है। नतीजतन, प्रयोगात्मक कलाकारों ने इन सभी बदलते हुए संदर्भों को गहराई से पकड़ने की कोशिश की और अपने नाटकों में इसे समाहित किया।

पाश्चात्य प्रभाव के संदर्भ में इब्सन, ब्रेख्त, सैम्युअल बैकेट, ग्रोतोवस्की, रिचर्ड शेखनर आदि का समकालीन हिन्दी रंगमंच पर व्यापक प्रभाव पड़ा। इब्सन के नाटकों में यथार्थवाद का रूप पाश्चात्य नाट्य परंपरा में सबसे पहले देखने को मिलता है- "हिंदी रंगमंच के प्रारंभिक दौर में जहाँ पारसी रंगमंच की अतिनाटकीय अभिनव शैली का प्राधान्य रहा वहीं बाद में पश्चिम के यथार्थवादी चिंतन के प्रभाव में, अधिक स्वाभाविक एवं ज्यादा-से-ज्यादा यथार्थवादी ढंग के अभिनय प्रस्तुत होने लगा।"3 इब्सन के बाद ब्रेख्त के नाटकों ने हमारी प्रयोगात्मक नाट्य-परम्परा पर प्रभाव डाला। जयदेव तनेजा के शब्दों में–"ब्रेख्त का रंगकर्म हमारे लोक/परंपराशील रंगमंच के काफी नजदीक पड़ता है। ब्रेख्त की प्रासंगिकता और सार्थकता हमारे लिए इस कारण से भी है कि उसने हमारी परंपरागत नाट्य शैलियों की संभावनाओं को समझने और उनके अर्थपूर्ण आधुनिक उपयोग करने में हमें बहुत मदद दी है।"[4] संकीर्ण व्यक्तिगत सुख-दुःख या भावुकता व संवेदना के प्रचलित थिएटर से अलग, ब्रेख्त ने 'एपिक थिएटर' (महाकाव्यात्मक रंगमंच) की कल्पना की। इसके लिए उन्होंने दर्शक को रंगमंचीय जादू से अभिभूत करने के बजाय प्रतिक्रिया देने और निर्णय लेने पर बल दिया। ब्रेख्त ने इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए मंच-सज्जा और दृश्यबंध की तैयारियों को दर्शकों के सामने करने की सलाह दी, ताकि वे जादू को कला या काम नहीं समझें। उन्होंने प्रतीकवाद, नृत्य-संगीत और जन-रंगमंच से रंगमंच को जोड़कर उसे पूर्ण रंगमंच बनाया। ब्रेख्त के इन कार्यों का हमारे नवीनतम नाटकों पर सीधा असर पड़ा। नए नाटककार ब्रेख्त से प्रभावित होकर लोक नाट्य परम्परा को पुनर्जीवित करने की ओर गए। वे रंगमंच को दर्शकों से जोड़ने की कोशिश करने लगे और नाटकों में लोकगीतों और संगीत को भी शामिल करने लगे। गिरीश कर्नाड का 'हयवदन' और विजय तेंदुलकर का 'घासीराम कोतवाल' इसके सशक्त प्रमाण हैं, जिनमें लोक परम्परा और जन-रंगमंच का आधुनिक भाव व्यक्त किया गया है। सर्वेश्वरदयाल सक्सेना की 'बकरी' और हबीब तनवीर के सभी नाटकों जैसे–'आगरा बाज़ार', 'चरणदास चोर' आदि में लोकनाट्य परम्परा का प्रयोग हुआ है। डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल के नाटकों 'सूर्यमुख' और 'कलंकी' में मिथक का आधुनिक प्रयोग दिखाई देता है।

हमारे नये नाटकों को ग्रीक थिएटर के पुनरुद्धार से भी एक नया विचार मिला कि महाभारत की कथाओं को ग्रीक परम्परा में अधिक प्रभावी ढंग से प्रस्तुत किया जा सकता है। डॉ. धर्मवीर भारती का 'अंधा युग' इसका स्पष्ट उदाहरण है। जिसके कई मंचन ग्रीक परंपरा में भी हुए हैं, डॉ. जयदेव तनेजा लिखते हैं, "इब्राहिम अल्काजी ने एक भारतीय नाटक 'अंधा युग' को अभारतीय (यूनानी) रंग-रूप और भंगिमा के साथ प्रस्तुत किया, तो इसके ठीक विपरीत हाल ही में ब. व. कारन्त ने एक अभारतीय नाटक 'मैकबेथ' को 'बरनम वन' के नाम से विशुद्ध

भारतीय लोक रंग-रूप और भंगिमा में प्रस्तुत कर दिखाया। दोनों ही प्रयोग अपने आप में हिंदी रंगमंच की उल्लेखनीय घटनाएँ हैं।"[5] 1962 ईस्वी में इब्राहिम अल्काजी को एनएसडी के निदेशक बनाए गए। इस दौरान अल्काजी ने विभिन्न विदेशी नाटकों का मंचन किया। इस क्रम में हिंदी रंगमंच भी को एक नई रंगदृष्टि मिली।

सैम्युअल बैकेट ने हिन्दी नाटकों पर एक विशिष्ट प्रभाव डाला, खासकर उसके नाटक 'वेटिंग फॉर गोदो' के संदर्भ में इसे नकारा नहीं जा सकता। हिन्दी में विपिन अग्रवाल ने इस शैली पर 'तीन अपाहिज' नामक नाटक लिखा। हालाँकि स्वातंत्र्योत्तर भारत की परिस्थितियों ने विसंगत वातावरण को पैदा कर मानव की लघुता और जीवन की निरर्थकता को बढ़ावा दिया है। हिन्दी रंगमंच पर एब्सर्ड शैली के प्रभाव के संदर्भ में जयदेव तनेजा लिखते हैं, "एब्सर्ड नाट्य-शैली का एक महत्त्वपूर्ण रंग प्रयोग सत्यव्रत सिन्हा ने भारतेंदु के 'अंधेर नगरी' में करके देखा था। आंशिक रूप में इस शैली का रोचक प्रयोग डॉ. धर्मवीर भारती के 'अंधा युग' के प्रहरियों के कई वार्तालापों, मोहन राकेश के 'आषाढ़ का एक दिन' के अनुस्वार और अनुनासिक तथा रंगिनी-संगिनी प्रसंग और 'लहरों के राजहंस' में श्यामांग के लंबे प्रलापों-एकलापों के अलावा 'छतरिया' जैसे बीज एवं पार्श्व नाटकों में भी इस शैली का प्रभाव मौजूद है। यही बात किसी हद तक बृजमोहन शाह के 'त्रिशंकु', 'शह ये मात', लक्ष्मीकांत वर्मा के 'अपना अपना जूता', 'रोशनी एक नदी है', शंभू नाथ सिंह के 'घोआस', मुद्रारक्षक के 'मरजीवा', 'तिलचट्टा', 'यौर्स फेथफुली', 'तेंदुआ', 'संतोला' और 'गुफाएँ', लक्ष्मी नारायण लाल के 'मादा कैक्टस' (संशोधित संस्करण), 'कर्फ्यू', 'सब रंग मोहभंग', 'यक्ष प्रश्न', 'अब्दुल्ला दीवाना', बलराज पंडित के 'पांचवाँ सवार', मणि मधुकर के 'रस गंधर्व', 'बुलबुल सराय', 'नाटक पालमपुर का' वगैरह में यह प्रवृत्ति स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती है।"[6]

पोलैंड के रंगकर्मी ग्रोतोवस्की के 'पुअर थिएटर' का प्रभाव भी हिन्दी रंगमंच पर रहा। 'पुअर थिएटर' के अनुसार हिन्दी रंगमंच पर भी मनोशारीरिक रंग-शैली के प्रदर्शन शुरू हुए। "इसमें एक भाषाविहीन कथ्य का सम्प्रेषण होता है। इस प्रदर्शन शैली के अंतर्गत यह माना जाता है कि अभिनेता के शरीर का उपयोग भाषा के रूप में अथवा भाषा के स्थान पर किया जा सकता है।"[7] चूँकि इस शैली में भाषा संबंधी कोई दीवार नहीं होती, इसीलिए इस शैली में कविता, कहानी, नाटक आदि प्रस्तुत किए जा सकते हैं। "मुक्तिबोध की लम्बी कविता 'अंधेरे में' के प्रदर्शन से शुरू होने वाली इस परम्परा में आगे चलकर 'जॉन बुल', 'खड़िया का घेरा', 'तुगलक' और 'चतुरीशाह' जैसे नाटक भी प्रस्तुत किये गये।"[8]

हिंदी रंगमंच पर रिचर्ड शेखनर के 'परिवेशमूलक रंगमंच, (Environmental Theatre) के प्रभाव को भी अनदेखा नहीं किया जा सकता। वे दर्शक को प्रस्तुति के माध्यम से एक विशिष्ट अनुभव देने की बात करते हैं–"आप (दर्शक) खेलने वालों (अभिनेताओं) के साझेदारी हों और कहानी को बुद्धि से भी और शरीर से भी अनुभव करें : कहानी के साथ-साथ 'रहें' उसे सिर्फ 'देखें' या 'सुनें' नहीं...। दर्शकों को एक ऐसा शारीरिक अनुभव दिया जाए जो सारे अस्तित्व को बाँध लेता हो, सिर्फ आँखों और कानों को नहीं।"[9] उदाहरणस्वरूप रिचर्ड शेखनर ने रंगमंडल के छात्रों के साथ मिलकर रविंद्र भवन के मुक्ताकाशी मंच 'मेघदूत' पर एंटोन चेख़व द्वारा लिखित 'चेरी का बगीचा' नामक नाटक की प्रस्तुति की। 'परिवेशमूलक रंगमंच' का असर वैसे तो अनेक रंगकर्मियों पर पड़ा, लेकिन इसका सबसे अधिक प्रभाव निस्सार अल्लाना पर रहा। निम्नलिखित नाटकों पर 'परिवेशमूलक रंगमंच' का असर स्पष्ट तथा देखा जा सकता है- शूद्रक का नाटक 'काठ की गाड़ी', मन्नू भंडारी का 'महाभोज', बर्टोल्ट ब्रेख्त के 'The good Person of Szechwan' का अमिताभ श्रीवास्तव द्वारा हिन्दी में रूपांतरित नाटक 'दिल्ली की औरत भली रामकली', तथा भानू भारती का 'चंद्रमा सिंह उर्फ चमकू' आदि।

समकालीन हिन्दी रंगमंच ने भारतीय सिनेमा से भी काफी कुछ ग्रहण किया है। आजकल हिन्दी रंगमंच सिनेमाई तकनीक का भी यथासंभव इस्तेमाल करने लगे हैं–"फिल्म-टीवी जैसे शक्तिशाली, व्यापक, सहज-सुलभ और अत्यधिक लोकप्रिय जन-माध्यमों की चुनौती के मुकाबले रंगकर्म को बचाए और बनाए रखने की कोशिश में जागरूक एवं प्रबुद्ध रंगकर्मी इस क्षेत्र में नित्य नए प्रयोग कर रहे हैं। थिएटर को मल्टीमीडिया और हाईटेक बनाने के प्रयोग प्रवृत्ति बनता जा रहा है।"[10] 25 जनवरी, 2024 को दिल्ली के कमानी ऑडिटोरियम में आशुतोष द्वारा राणा द्वारा लिखित व गौरव भारद्वाज द्वारा निर्देशित नाटक 'हमारे राम' का मंचन हुआ। इसमें 3D ग्राफिक्स वीडियो का उत्तम उदाहरण देखा जा सकता है। अमिता मलिक के शब्दों में कहें तो, "कुछ तथाकथित 'आधुनिक' नाटकों में नायक-नायिका फिल्मों की भांति गाना गाते दिखाई देते हैं और यह गाना पार्श्व में उपस्थित गायक (प्ले बैक सिंगर्स) गाते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ नितांत संदर्भहीन और भदेश 'हास्य' प्रसंग होते हैं, जो न्यूनतम कोटी की बंबईया फिल्मों की तर्ज पर होते हैं। खीसें निपोड़ने वाली नौकरानी, 'मजाकिया' पुरुष, तीखी आवाज वाली सास, क्लार्क गेबल जैसी मूंछों वाले खलनायक जैसे पात्र धीरे-धीरे गैर व्यावसायिक स्तर पर लिखे जाने वाले नाटकों का अंग बनते जा रहे हैं। फिल्मी परंपरा की तरह मंच पर भी अब 'अतिरिक्त' कलाकारों की भीड़ होने लगी है।"[11]

सन् 1990 का दशक वैश्वीकरण का दौर था। इस समय भारत सरकार एल. पी. जी. (लिब्रलाईजेशन, प्राइवेटाईजेशन और ग्लोबलाइज़ेशन) की अवधारणा पर कार्य कर रही थीं। इसके कारण रंग-जगत् पर भी व्यापक प्रभाव पड़ा। इस समय सिनेमा और टीवी सिरियल ने गति पकड़ी। देवेन्द्र राज अंकुर ने लिखा है–"नवें दशक में देखते हैं कि भारतीय समाज में दूरदर्शन का बहुत जोर-शोर से प्रसार होता है। फिल्में एकाएक प्रमुखता से उभर कर आती हैं। पहला धारावाहिक 'हम लोग' दूरदर्शन पर प्रसारित किया जाता है। अर्थात् हमारी जिंदगी और रोजमर्रा के जीवन में दूरदर्शन, फिल्म और फिर धीरे-धीरे कंप्यूटर, मोबाईल, वीडियो इन सारे तत्वों का आगमन बड़े जोर-शोर से होता है। जाहिर है

जब हम समाज और जीवन में इन सारी चीजों का इस्तेमाल कर रहे हैं तो हमारे कलाकार और हमारे रचनाकार भी उनका रंगमंच में भी इस्तेमाल करना शुरू करेंगे।"[12]

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि समकालीन हिन्दी रंगमंच पर पारंपरिक व लोक नाट्य-शैली के साथ-साथ पाश्चात्य रंग-शैली का भी व्यापक प्रभाव रहा है। सन् 1970 के दशक में तथा उसके बाद हिन्दी रंगमंच पर लोक-नाट्य परंपरा का भाव गहराया है। इस दौर में 'बकरी', 'रसगंदर्भ', 'दुलारीबाई', 'आला अफसर', 'कबीरा खड़ा बाज़ार में', 'आगरा बाज़ार', 'चरणदास चोर' इत्यादि नाटकों की रचना लोक-शैली को प्रस्तुत करने के क्रम में हुई। ये तमाम नाटक विविध स्थानीय भाषा, रीति-रिवाज, लोक-परंपरा और लोक-नाट्य शैलियों के प्रस्तुतीकरण का प्रतिनिधित्व करते हैं। इससे विविध लोक भाषा व संस्कृति का प्रसार और 'विविधता में एकता' का भाव गहन करने में सहायता मिल रही है। स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी काल के कई हिन्दी नाटकों पर पाश्चात्य रंग-परंपरा की छाप दिखाई देती है। आधुनिक रंगोपकरण तथा वैश्वीकरण का भी समकालीन हिन्दी रंगमंच पर व्यापक प्रभाव पड़ा है। अब टेलीविज़न का स्थान कम्प्युटर, लैपटॉप तथा स्मार्ट फोन लेने लगे हैं। श्रोता और दर्शक कहीं भी, कभी भी सिनेमा जगत का लुफ़्त लेने लगे हैं। नाटक, नाट्य स्थल मात्र तक न सिमटकर स्मार्ट फोन, लैपटॉप और कम्प्युटर में यूट्यूब पर अपलोड किए जाने लगे हैं। वैश्वीकरण के बाद आधुनिक तकनीक केवल शहरों तक सीमित न रहकर गाँवों और कस्बों तक फैला। लोग स्मार्ट फोन के माध्यम से दिल्ली अथवा मुंबई जैसे बड़े शहरों में मंचित हुए कुछ नाटकों को किसी छोटे-से गाँव में भी बैठकर देख सकते हैं। अतः समकालीन हिन्दी रंगमंच पुरातन और नवीन रंग-परंपरा के मिश्रित शैली को प्रस्तुत करते दिखाई पड़ते हैं।

सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची

1. पालीवाल, रीतारानी. रंगमंचः नया परिदृश्य. वाणी प्रकाशन, 2018, पृ. 181.
2. रस्तोगी, गिरीश. नाटक और रंग-परिकल्पना. विश्वविद्यालय प्रकाशन, 1992, पृ. 24.
3. गुरव, रमिता. समकालीन हिन्दी रंगमंच. विद्या प्रकाशन, 2006, पृ. 171.
4. तनेजा, डॉ. जयदेव. हिन्दी रंगकर्मः दशा और दिशा, तक्षशिला प्रकाशन, 2010, पृ. 327.
5. वही, पृ. 322.
6. वही, पृ. 332–34.
7. गुरव, रमिता. समकालीन हिन्दी रंगमंच. विद्या प्रकाशन, 2006, पृ. 182.
8. वही, पृ. 182.
9. तनेजा, डॉ. जयदेव. हिन्दी रंगकर्मः दशा और दिशा. तक्षीला प्रकाशन, 2010, पृ. 329–330.
10. तनेजा, डॉ. जयदेव. नाट्य प्रसंग. तक्षीला प्रकाशन, 2017, पृ. 245.
11. मलिक, अमिता. "भारतीय रंगमंच पर सिनेमा का प्रभाव" शुक्ल, प्रयाग (सं.), रंग प्रसंग, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, जनवरी–जून 2001, पृ. 53.
12. अंकुर, देवेन्द्र राज, पहला रंग. राजकमल प्रकाशन, 2013, पृ. 96.

चित्रों के स्रोत

1. "वीर अभिमन्यु" निर्देशक : पद्मश्री पं. रामदयाल शर्मा, अभिमंच सभागार, एनएसडी, 30 अप्रैल 2024 को मंचित।
2. "शायरशटर डाउन" निर्देशक : त्रिपुरारी शर्मा, श्रीराम सेंटर, फरवरी 2018 को मंचित।